



न्यायिक सक्रियता

Class Notes/Study Material

Class Timing: 8 am- 11 am

70th & 71th BPSC GS P- 2 Mains 2024-25

By: Santosh Kashyap Sir

Bihar Naman GS

3rd Floor, A. K. Pandey Building, Road No.- 2, Rajendra Nagar, Near Dinkar
Golambar, Patna – 800016

भूमिका

भारतीय संविधान के तहत देश में न्याय, स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे को सुनिश्चित करने के लिए राज्य की प्राथमिक जिम्मेदारी है। राज्य व्यक्तियों के मौलिक अधिकारों की रक्षा करने और राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों को लागू करने के लिए बाध्य है। राज्य को अपनी जिम्मेदारियों से बचने से रोकने के लिए, भारतीय संविधान ने राज्य के कार्यों की समीक्षा (रिव्यू) करने के लिए न्यायालय की अंतर्निहित (इम्प्लेंट) शक्तियां प्रदान की हैं। इस संदर्भ में, भारतीय न्यायपालिका को भारतीय संविधान का रक्षक और संरक्षक माना गया है।

अपने संवैधानिक दायित्व का पालन करते हुए, भारतीय न्यायपालिका ने राज्य के अन्यायपूर्ण, अविवेकी (अनरीजनेबल) और अनुचित कार्यों या निष्क्रियता (इनेक्शंस) से जब भी आवश्यक हो, व्यक्तियों के मौलिक अधिकारों का सक्रिय रूप से बचाव किया है। मानवाधिकारों को कायम रखते हुए न्यायपालिका ने न्यायिक सक्रियता के मामले में, कार्यस्थल में महिलाओं के अधिकारों की रक्षा से लेकर सतत (सस्टेनेबल) विकास के मूलभूत सिद्धांतों को लागू करने तक एक लंबा सफर तय किया है।

न्यायिक सक्रियता की उत्पत्ति और विकास

न्यायिक सक्रियता का सिद्धांत यूनाइटेड किंगडम में न्यायिक समीक्षा (ज्यूडिशियल रिव्यू) प्रक्रिया के दौरान उभरा था। ब्रिटिश संविधान एक अलिखित संविधान का उदाहरण है जो न्यायिक सक्रियता की अनुमति देता है। स्टुअर्ट के शासनकाल (1603-1688) के दौरान, अलिखित संविधान ने न्यायिक समीक्षा की संभावना पैदा की, और इस तरह न्यायिक सक्रियता का जन्म हुआ।

न्यायिक समीक्षा सिद्धांत की स्थापना 1610 में न्यायाधीश एडवर्ड कोक ने की थी। थॉमस बोनहम बनाम कॉलेज ऑफ फिजिशियन (1610) के मामले में, उन्होंने निर्णय लिया कि संसद द्वारा पारित कोई भी कानून जो सामान्य कानून या तर्क के खिलाफ है, उसकी समीक्षा की जा सकती है और उसको न्यायालयों द्वारा शून्य घोषित किया जा सकता है। न्यायिक समीक्षा के इस सिद्धांत और, तदनुसार, न्यायिक सक्रियता का समर्थन सर हेनरी होबार्ट ने किया, जो 1615 में आम दलीलों की अदालत के मुख्य न्यायाधीश के रूप में सर एडवर्ड कोक के उत्तराधिकारी बने।

न्यायिक समीक्षा के विचार से जुड़ा पहला महत्वपूर्ण मामला मैडबरी बनाम मैडिसन (1803) का था, जिसमें यूएस के सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट रूप से 1801 के न्यायपालिका अधिनियम के कुछ प्रावधानों को असंवैधानिक घोषित किया था। अमेरिकी इतिहास में पहली बार, किसी अदालत ने कानून के एक टुकड़े को असंवैधानिक घोषित किया था। चूंकि सर्वोच्च न्यायालय ने फैसला सुनाया कि संघीय (फ़ेडरल) न्यायालयों के पास असंवैधानिक कानूनों को अमान्य करने का अधिकार है, इसलिए न्यायिक समीक्षा ने संयुक्त राज्य में लोकप्रियता हासिल की है।

न्यायिक सक्रियता क्या है?

“न्यायिक सक्रियता” की अवधारणा “न्यायिक संयम (ज्यूडिशियल रिस्टैंट)” के विचार का विरोध करती है। इन दोनों शब्दों का उपयोग अक्सर न्यायिक शक्ति की मुखरता (असर्टिवनेस) का वर्णन करने के लिए किया जाता है, और इनका उपयोग व्यक्तिगत और व्यावसायिक विचारों के दृष्टिकोण से भी किया जाता है, जिससे अदालतें उचित भूमिका निभाने के लिए किसी एक विचार की ओर झुक जाती हैं। “न्यायिक सक्रियता,” “न्यायिक सर्वोच्चता (सुप्रीमेसी),” “न्यायिक

निरपेक्षता (एब्सोल्यूटिज्म), "न्यायिक अराजकता (एनार्की)," और अन्य शब्द अक्सर संयुक्त राज्य अमेरिका में एक दूसरे के स्थान पर उपयोग किए जाते हैं। "न्यायिक सक्रियता" शब्द को आनुभाविक (एंपायरिकल) भी माना जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि न्यायाधीशों का प्रदर्शन उनकी विचारधाराओं, विचारों, मूल्यों और रुचियों पर आधारित होता है।

समकालीन निश्चित शब्दों में, न्यायिक सक्रियता को अक्सर संविधान की सीमाओं के भीतर लोकतांत्रिक शक्ति का उपयोग करके कार्यकारी गलतियों को ठीक करने के तरीके के रूप में देखा जाता है। ऐसा कहा जाता है कि न्यायिक सक्रियता न्यायाधीशों को उनकी पारंपरिक भूमिका के अलावा, देश के नागरिकों की ओर से व्यक्तिगत नीति निर्माताओं और स्वतंत्र ट्रस्टी के रूप में कार्य करने का अधिकार देती है। सामान्य तौर पर, न्यायिक सक्रियता सभी तीन महत्वपूर्ण स्तंभों के कुशल समन्वय (कोऑर्डिनेशन) को सुनिश्चित करने के लिए कार्यकारी या विधायी शाखाओं द्वारा की गई गलतियों को ठीक करने में न्यायपालिका की सक्रिय भूमिका को संदर्भित करती है।

ऊपर की चर्चा स्पष्ट रूप से दर्शाती है कि "न्यायिक सक्रियता" शब्द एक व्यापक अवधारणा को संदर्भित करता है। वाक्यांश का अर्थ अस्पष्ट है। इसलिए इन सबको एक संक्षिप्त परिभाषा में जोड़ना असंभव है। न्यायिक सक्रियता को परिभाषित करने और समझने के कई तरीके हैं। सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों ने पिछले कुछ वर्षों में कई विवादास्पद (कंटेंशियस) फैसले दिए हैं, जिन्होंने बहस छेड़ दी है। हालाँकि, यह अभी भी स्पष्ट नहीं है कि "न्यायिक सक्रियता" शब्द का अर्थ क्या है।

भारत में न्यायिक सक्रियता का विकास

आजादी के बाद के शुरुआती वर्षों में, भारत की अदालतें प्रकृति में तकनीकी थीं। यद्यपि न्याय का लक्ष्य हमेशा इस मूलभूत पहलू से मेल नहीं खाता था कि अदालतें कैसे काम करती हैं, न्यायपालिका उन प्रक्रियाओं का पालन करने के लिए अधिक चिंतित थी जो इससे अपेक्षित थीं। दूसरे शब्दों में कहें तो, उस समय के अधिकांश न्यायाधीश उतने रचनात्मक नहीं थे और उन्होंने न्याय के लक्ष्य को पूरा करने के तरीकों की तलाश करने की जहमत नहीं उठाई, जिसके लिए वे उन पदों पर थे। ब्रिटिश साम्राज्य और एक नए स्वतंत्र भारत में कुछ न्यायाधीश निर्णय जारी करने के लिए अपने रास्ते से हट गए जिन्हें अब न्यायिक सक्रियता का मूलभूत उदाहरण माना जाता है।

न्यायिक सक्रियता के प्रारंभिक मामले

न्यायिक सक्रियता की शुरुआत 1893 में हुई थी जब **इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति महमूद** ने एक असहमतिपूर्ण निर्णय जारी किया जिसने भारत में सक्रियता के बीज बोए। इस मामले में एक विचाराधीन (अंडर ट्रायल) व्यक्ति शामिल था जो कानूनी प्रतिनिधित्व का खर्च वहन नहीं कर सकता था। अपनी असहमतिपूर्ण राय में, उन्होंने इस नियम की आलोचना की और कहा कि अपील पूरी तरह से इस आधार पर खारिज कर दी जानी चाहिए कि अपीलकर्ता अंग्रेजी में रिकॉर्ड के अनुवाद और छपाई के लिए भुगतान करने में असमर्थ है। यह गंभीर रूप से क्षतिग्रस्त विचाराधीन कैदियों की रक्षा के लिए किसी प्रकार की सक्रियता के समान था। हालाँकि, यह पीठ पर अंग्रेजी न्यायाधीशों के साथ अच्छी तरह से नहीं बैठा, न्यायाधीश महमूद को अदालत में इन युक्तियों का उपयोग करने के लिए इस्तीफा देने के लिए मजबूर होना पड़ा।

इसके अलावा, भारत में न्यायिक सक्रियता की अवधारणा ने 1960 के दशक के अंत या 1970 के दशक की शुरुआत में और अधिक कर्षण (ट्रेक्शन) प्राप्त किया, जब श्रीमती इंदिरा गांधी ने प्रधानमंत्री के रूप में कार्य किया और मोहन कुमारमंगलम, एक प्रसिद्ध अधिवक्ता और कानूनी विद्वान, ने केंद्रीय मंत्री के रूप में कार्य किया। समाज के गरीब वर्गों के हितों की बेहतर सेवा करने के लिए, स्वर्गीय श्रीमती इंदिरा गांधी ने अपने पसंदीदा नारे, "गरीबी हटाओ" को व्यवहार में लाने का प्रयास किया, पूर्व राजाओं को दिए गए प्रिवी पर्स और विशेषाधिकारों को समाप्त कर दिया और स्वतंत्र भारत की रियासतों के राजकुमारों और 14 प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया हालाँकि, रूढ़िवादी (कंजरवेटिव) न्यायपालिका ने इसे व्यक्तिगत रूप से लिया और इसके प्रयासों को पलट दिया।

श्रीमती इंदिरा गांधी ने प्रिवी पर्स उन्मूलन (एबोलिशन) और बैंकों के राष्ट्रीयकरण के मामलों में भारत के सर्वोच्च न्यायालय के फैसले को न्यायिक अतिरेक (ओवररीच) के उदाहरण के रूप में देखते हुए दृढ़ता से और स्पष्ट रूप से जवाब दिया। श्री कुमारमंगलम की सिफारिश पर, यह माना जाता है कि पूर्वोक्त मामलों में बहुमत के निर्णयों में भाग लेने वाले रूढ़िवादी और वरिष्ठ (सीनियर) सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को भारत के मुख्य न्यायाधीश के पद पर नियुक्ति के लिए पारित किया गया था। असंतुष्ट न्यायाधीश, श्री ए.एन. रे की नियुक्ति, जो वरिष्ठता की पंक्ति में चौथे स्थान पर थे, तीन वरिष्ठ न्यायाधीशों को (न्यायाधीश हेगड़े, शेलट और ग्रोवर) के इस्तीफे का कारण बने। इसने न्यायिक सक्रियता के सिद्धांत की नींव के रूप में कार्य किया, जो कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच विवाद के परिणामस्वरूप उभरा था।

इस संबंध में पहला ऐतिहासिक मामला ए.के. गोपालन बनाम मद्रास राज्य (1950) का था, जिसमें यह निर्धारित करने के लिए एक रिट दायर की गई थी कि क्या बिना मुकदमे के हिरासत में रखना अनुच्छेद 14, 19, 21 और 22 के तहत मौलिक अधिकारों का उल्लंघन है। सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि लिखित संविधान में न्यायिक समीक्षा का अधिकार है। हालांकि चुनौती असफल रही, इसने एक नई कानूनी प्रवृत्ति शुरू की जो उसके बाद के वर्षों में स्पष्ट हो गई।

प्रेस की स्वतंत्रता

सकल न्यूजपेपर्स प्राइवेट लिमिटेड बनाम भारत संघ (1962), में सरकार ने समाचार पत्र अधिनियम 1956 और 1960 के आदेश के अनुसार समाचार पत्र की कीमत के संबंध में पृष्ठों की संख्या को विनियमित (रेगुलेट) करने की मांग की। सर्वोच्च न्यायालय ने फैसला सुनाया कि समाचार पत्र अन्य व्यवसायों के समान नियमों के अधीन नहीं हो सकते क्योंकि वे विचारों और सूचनाओं के आदान-प्रदान के लिए एक मंच के रूप में कार्य करते हैं। इस निर्णय ने संविधान के अनुच्छेद 19(1)(a) द्वारा प्रदत्त अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की सुरक्षा को व्यापक बनाया।

आरक्षण नीति

बालाजी बनाम मैसूर राज्य (1963) के मामले में, सर्वोच्च न्यायालय ने तर्क दिया कि आर्थिक पिछड़ापन (बैकवर्डनेस) सामाजिक पिछड़ापन का मूल कारण था। न्यायालय ने जाति को वर्ग से अलग किया और फैसला सुनाया कि जाति का इस्तेमाल पिछड़ापन का आकलन करने के लिए नहीं किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त, यह निर्णय लिया गया कि आरक्षित वर्ग का कुल प्रतिशत 50% से अधिक नहीं होना चाहिए। और यह निर्णय लिया गया कि अनुच्छेद 14 के साथ-साथ अनुच्छेद 15 और 16 के उपसमुच्चय (सबसेट्स) का भी पालन किया जाना चाहिए। चित्रलेखा बनाम मैसूर राज्य (1964) के मामले में न्यायालय द्वारा आरक्षण पर इसी तरह की सीमाएं लगाई गई थीं।

संभावित अधिनिर्णय (प्रोस्पेक्टिव ओवररूलिंग) का सिद्धांत

संभावित अधिनिर्णय का सिद्धांत पहली बार अमेरिकी कानूनी प्रणाली में उपयोग किया गया था इसमें कहा गया है कि किसी विशिष्ट मामले में किया गया निर्णय केवल भविष्य को प्रभावित करेगा और पिछले निर्णयों पर इसका कोई पूर्वव्यापी (रेट्रोस्पेक्टिव) प्रभाव नहीं होगा। गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य (1971) में, भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान के 17वें संशोधन की संवैधानिक वैधता को संबोधित करते हुए “संभावित अधिनिर्णय” का विचार आया और यह निर्धारित किया कि संसद के पास किसी के भी मौलिक अधिकार को कम करने के लिए या संविधान के भाग III में संशोधन करने का अधिकार नहीं है।

मूल संरचना का सिद्धांत

केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य (1973) के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने एक निर्णय जारी किया जिसे भारतीय संवैधानिक न्यायशास्त्र (ज्यूरिस्प्रूडेंस) में एक महत्वपूर्ण क्षण माना जाता है। संविधान के अनुच्छेद 368 द्वारा प्रदत्त संशोधन शक्ति के दायरे को संबोधित करते हुए, न्यायालय ने “मूल संरचना” के सिद्धांत को विकसित किया। 7:6 की बहुमत से, 13 न्यायाधीशों की एक खंडपीठ (कॉन्स्टीट्यूशनल बेंच) ने फैसला सुनाया कि संसद के पास संविधान में संशोधन करने की व्यापक शक्तियाँ हैं, लेकिन उस शक्ति को संविधान के बुनियादी ढांचे को कम या नष्ट नहीं करना चाहिए।

बंदी प्रत्यक्षीकरण (हैबियस कार्पस) मामला

ए.डी.एम जबलपुर बनाम शिवकांत शुक्ला (1976) का मामला, जिसमें अनुच्छेद 21 लाया गया था, जिसके परिणामस्वरूप न्यायिक सक्रियता के संबंध में सर्वोच्च न्यायालय का सबसे विवादास्पद निर्णय हुआ। ए.डी.एम जबलपुर के मामले की सुनवाई करने वाली पीठ की बहुमत ने माना कि गंभीर आपात स्थिति के मामलों में, जैसे कि 1975 और 1977 के बीच मौजूद थे, एक कानूनी प्रक्रिया स्थापित की जा सकती थी, जिसके बाद मानव जीवन भी छीना जा सकता था। हालाँकि, निर्णय लिखने वाले न्यायमूर्ति चंद्रचूड़ को सरकार समर्थक राय लिखने के लिए आलोचना का सामना करना पड़ा, लेकिन उन्होंने जो कानूनी सिद्धांत दिया वह न्यायिक सक्रियता का उदाहरण था। न्यायमूर्ति चंद्रचूड़ ने इस तरह से अनुच्छेद 21 की व्याख्या की है और देश की संप्रभुता (सोवरेनिटी) अगर इसे आंतरिक या बाहरी आक्रमण से खतरा है को बनाए रखने के लिए स्वीकृति की आवश्यकता वाले कानून की वैधता को बरकरार रखा है।

कुछ अन्य मामले

- मेनका गांधी बनाम भारत संघ (1978) के मामले में, मेनका गांधी ने तर्क दिया कि सरकार ने उनका पासपोर्ट जब्त करके उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता का उल्लंघन किया है। अदालत ने फैसला सुनाया कि पासपोर्ट की जब्ती गैरकानूनी थी। इस मामले में ए.के. गोपालन वाले मामले के फैसले को सर्वोच्च न्यायालय ने पलट दिया, जिससे अनुच्छेद 14 और 21 के तहत व्यक्तिगत स्वतंत्रता की वैधता सुनिश्चित हो गई।

- **मिनर्वा मिल्स बनाम भारत संघ (1980)** में, सर्वोच्च न्यायालय ने केशवानंद भारती के फैसले को पलटने और संविधान में अपनी पसंद के अनुसार संशोधन करने के लिए अप्रतिबंधित (अनरेस्ट्रिक्ट) शक्ति को हड़पने वाले सरकार के प्रयास को खारिज कर दिया। नतीजतन, अदालत ने फैसला किया कि न्यायिक समीक्षा कानूनी प्रणाली का एक अनिवार्य हिस्सा है और संसद को पहले दी गई सीमित शक्तियों के दायरे को व्यापक बनाने की अनुमति नहीं है।

इसके अलावा, भारत के न्यायिक सक्रियता के जनक न्यायमूर्ति पी.एन. भगवती ने हुसैनारा खातून बनाम गृह सचिव, बिहार राज्य (1979), और खत्री बनाम बिहार राज्य (1981) सहित कई फैसलों में अवधारणा को मजबूत किया। इसने इसे पूर्ण न्याय सुनिश्चित करने के लिए न्यायाधीशों के हाथों में एक उपकरण के रूप में इस्तेमाल करने का मार्ग प्रशस्त किया।

इस प्रकार, भारत में न्यायिक सक्रियता के विकास को तीन व्यापक चरणों में विभाजित किया जा सकता है:

1. 1950-1970: शास्त्रीय (क्लासिकल) न्यायपालिका का काल, जो किसी भी प्रकार की सक्रियता में संलग्न नहीं था।
2. 1970-2000: वह अवधि जिसमें न्यायपालिका और न्यायाधीशों ने न्यायिक सक्रियता की अवधारणा को स्थापित किया और इसने लोकप्रियता हासिल की।
3. 2000-अब तक: न्यायिक सक्रियता विकसित हुई है और विभिन्न पहलुओं को शामिल किया है, लेकिन यह न्यायिक अतिरेक से भी प्रभावित हुई है।

भारत में सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों की संवैधानिक शक्तियां

न्यायिक सक्रियता राज्य के कार्यों की जांच करने के लिए न्यायालयों के अधिकार का उपयोग करने की प्रथा है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 32 और 226 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय के पास किसी भी विधायी, कार्यकारी या प्रशासनिक कार्रवाई को असंवैधानिक और शून्य मानने की शक्ति है। भारतीय संविधान के मूल प्रावधानों में से एक न्यायिक समीक्षा का अधिकार है।

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 32

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 32 में यह प्रावधान है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन (एनफोर्समेंट) के लिए भारत के सर्वोच्च न्यायालय में सीधे मामला दर्ज करने का अधिकार है। अनुच्छेद 32 के तहत किसी भी मौलिक अधिकार को सर्वोच्च न्यायालय द्वारा जारी आदेश या रिट द्वारा लागू किया जा सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय ने उर्वरक (फर्टिलाइजर) निगम कामगार संघ बनाम भारत संघ (1981) में कहा कि अनुच्छेद 32 द्वारा प्रदान किया गया सर्वोच्च न्यायालय का अधिकार भारतीय संविधान के मौलिक ढांचे का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है क्योंकि “जब मौलिक अधिकारों का उल्लंघन होता है तो उनके प्रवर्तन के लिए प्रभावी उपाय प्रदान किए बिना मौलिक अधिकार प्रदान करना अर्थहीन है।” आपात स्थिति में भी इसे निलंबित नहीं किया जा सकता है। कई मामलों में, सर्वोच्च न्यायालय ने सार्वजनिक कर्तव्यों का पालन करने वाली निजी संस्थाओं के सामने आने पर भी मौलिक अधिकारों को बनाए रखने के लिए अनुच्छेद 32 की एक बहुत ही उदार (लिबरल) व्याख्या का उपयोग किया है।

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 226

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 226 में यह प्रावधान है कि उच्च न्यायालयों को मूल अधिकारों और अन्य कानूनी अधिकारों के प्रवर्तन के लिए कोई उपयुक्त आदेश या रिट जारी करने की शक्ति है। इस मामले में, ऐसा प्रतीत होता है कि अनुच्छेद 226 के तहत उच्च न्यायालय का अधिकार क्षेत्र अनुच्छेद 32 के तहत सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र से परे है। अनुच्छेद 32 और 226 भारतीय संविधान की नींव बनाते हैं। इसके अलावा, उच्च न्यायालय को अनुच्छेद 227 द्वारा निचली न्यायालयों, न्यायाधिकरणों (ट्रिब्युनल) और विशेष न्यायालयों पर भी अधिकार दिया गया था।

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 136

इसके अलावा, सर्वोच्च न्यायालय भारतीय संविधान के अनुच्छेद 136 के तहत किसी भी कारण या मामले में किसी भी अदालत या न्यायाधिकरण द्वारा किए गए किसी भी निर्णय, डिक्री, निर्धारण, सजा या आदेश की अपील करने के लिए विशेष अनुमति दे सकता है। उन स्थितियों में जहां गंभीर अन्याय हुआ है या कोई महत्वपूर्ण कानूनी मुद्दा है, सर्वोच्च न्यायालय अपने अद्वितीय अधिकार का उपयोग करता है।

अनुच्छेद 136 द्वारा प्रदान किए गए विवेकाधीन अधिकार के साथ, न्याय, समानता और अच्छे विवेक के अनुसार एक मामले का फैसला किया जा सकता है। हालांकि, इसे सावधानी के साथ इस्तेमाल करने की जरूरत है। प्रीतम सिंह बनाम राज्य (1950) में, सर्वोच्च न्यायालय ने फैसला सुनाया कि अनुच्छेद 136 द्वारा दी गई व्यापक विवेकाधीन शक्ति का उपयोग केवल असाधारण परिस्थितियों में किया जाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त, सर्वोच्च न्यायालय ने रूपा अशोक हुर्रा बनाम अशोक हुर्रा (2002) के मामले में यह बहस करते हुए उपचारात्मक याचिका का विचार बनाया, कि क्या सर्वोच्च न्यायालय के अंतिम निर्णय के बाद भी पीड़ित व्यक्ति को राहत का कोई अधिकार है।

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 142

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 142, जो सर्वोच्च न्यायालय को मामले में पूर्ण न्याय सुनिश्चित करने के लिए आदेश जारी करने का अधिकार देता है, न्यायिक सक्रियता के संबंध में सबसे महत्वपूर्ण प्रावधान है। एम सिद्दीक (डी) न्यायिक प्रतिनिधि द्वारा बनाम महंत सुरेश दास और अन्य (2019) जिसे राम जन्मभूमि/ बाबरी मस्जिद मामले के रूप में भी जाना जाता है, में सर्वोच्च न्यायालय ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय (2010) के फैसले को भारतीय संविधान के अनुच्छेद 142 के अनुसार उलट दिया, यह ऐसे आदेश का एक उदाहरण है।

भारत के सर्वोच्च न्यायालय के पास भारतीय संविधान के अनुच्छेद 142 के तहत कानून बनाने का अधिकार है, इस तथ्य के बावजूद कि भारत की संसद ऐसा करने का प्राथमिक अधिकार रखती है। यह आदेश तब तक प्रभावी रहेगा जब तक संसद समस्या के समाधान के लिए कानून पारित नहीं कर देती, लेकिन यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि इस अनुच्छेद को तब लागू किया जा सकता है जब कानून में कोई अंतर हो या आदेश जनहित में हो।

न्यायिक सक्रियता के उल्लेखनीय रूप

जनहित याचिका का आविष्कार

वी.आर कृष्णा अय्यर, पी.एन भगवती, चिन्नप्पा रेड्डी और डी.ए देसाई जैसे न्यायाधीशों ने न्यायिक सक्रियता का समर्थन किया और लोगों के मौलिक अधिकारों को संबोधित करते हुए कई फैसले जारी किए। अक्सर यह दावा किया जाता है कि जनहित याचिका का विकास और लोकस स्टैंडी शासन का उदारीकरण न्यायिक सक्रियता की जड़ें हैं। लोकस स्टैंडी की कठोरता को कम करके उनके लिए न्याय सुनिश्चित करके उत्पीड़ित, गरीब और जरूरतमंदों को सशक्त बनाने के महान लक्ष्य के साथ जनहित याचिका की कल्पना की गई थी।

1970 के दशक से, सर्वोच्च न्यायालय ने उन लोगों से भी वास्तविक मामलों को स्वीकार किया है जो प्रभावित नहीं हैं। जनहित याचिका में उन स्थितियों को शामिल किया गया है जिनमें आधिकारिक उदासीनता (इंडिफरेंस) के परिणामस्वरूप आम जनहित का उल्लंघन या नुकसान हुआ है और इन मामलों में किए गए निर्णय न्यायिक सक्रियता के दायरे में आते हैं। जनहित याचिका उन लोगों के बड़े समूह के लिए न्याय की गारंटी देती है जिनके पास इसकी पहुंच नहीं है। भारत में, सामाजिक कार्यकर्ताओं और जनहित याचिकाकर्ताओं ने उत्पीड़ित, वंचित और शोषित वर्गों के कल्याण को सुनिश्चित करने के उपायों की वकालत करने में सक्रिय रूप से उच्च न्यायपालिका का समर्थन किया है।

न्यायपालिका सामाजिक-आर्थिक स्थितियों को प्रभावित करने की क्षमता के साथ एक सुधारक के रूप में विकसित हुई है। जनहित याचिकाएं इस बात का अवलोकन (ओवरव्यू) प्रदान करती हैं कि कैसे सक्रिय भारतीय अदालतें समाज को बदलने के लिए काम करती हैं। अब तक, सर्वोच्च न्यायालय ने बच्चों और महिलाओं, समाज में उत्पीड़ित और कमजोर समूहों, बंधुआ मजदूरी, आकस्मिक (कैजुअल) श्रम, मानसिक और शारीरिक रूप से विकलांग, विचाराधीन कैदियों, बंदियों, और हिरासत में रखे गए दोषी व्यक्तियों के अधिकारों और इस तरह के मुद्दों पर विचार किया है।

जनहित याचिकाओं पर न्यायिक निर्णय

1. सार्वजनिक महत्व के मामलों को सीधे सर्वोच्च न्यायालय में ले जाने की प्रथा महाराज सिंह बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (1976) के मामले से शुरू हुई इस मामले में, अदालत ने सहमति व्यक्त की कि कानूनी स्थिति की कमी ऐसे मामले को खारिज करने के लिए पर्याप्त नहीं होगी जहां समुदाय को नुकसान पहुंचाया गया हो। “पीआईएल” शब्द का इस्तेमाल पहली बार उर्वरक निगम कामगार यूनियन मामले में न्यायमूर्ति अय्यर और भगवती द्वारा किया गया था। न्यायालय के निर्णय में उन याचिकाओं का भी उल्लेख किया गया था जो पत्र के रूप में प्रस्तुत की गई थीं, जिसमें पत्र-क्षेत्राधिकार था।

2. हुसैनारा खातून बनाम बिहार राज्य (1979) में, जेल में विचाराधीन कैदियों के आसपास की परिस्थितियों के बारे में अखबारों के लेखों के जवाब में सर्वोच्च न्यायालय में एक याचिका दायर की गई थी। कुछ प्रतिवादी पहले ही उस अपराध के लिए उन्हें हिरासत में लिया गया था अनुमति से अधिक समय दे चुके थे अधिक बोझ वाली न्यायपालिका के समक्ष मामले वर्षों से लंबित थे, और जिन पर मुकदमा चल रहा था वे जमानत प्राप्त करने में असमर्थ थे क्योंकि उनके पास बांड और जमानत के रूप में भुगतान करने के लिए पर्याप्त धन नहीं था। एक रिट के रूप में, याचिका को मंजूरी दी गई थी। यदि वे आवश्यक जमानत राशि जुटाने में असमर्थ थे, तो न्यायमूर्ति भगवती और पीठ के अन्य न्यायाधीशों ने व्यक्तिगत बांड पर उनकी रिहाई को अनिवार्य कर दिया। उन्होंने दावा किया कि यह एक त्वरित परीक्षण एक मौलिक अधिकार था जिसे पैसे के कारण प्रतिबंधित नहीं किया जा सकता था। कानूनी प्रतिनिधित्व तक अप्रतिबंधित पहुंच का अधिकार जीवन के अधिकार

और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार दोनों पर अदालत के फैसले का हिस्सा है। इस फैसले के साथ, न्यायिक प्रणाली ने एक खामी को ठीक कर दिया और तब से इस तरह के विचाराधीन कैदियों का सामना करने वाले हजारों लोगों को जमानत मिल चुकी है।

3. एस.पी गुप्ता बनाम भारत संघ (1982) में अदालत ने कई नागरिकों के सामने आने वाली प्रतिकूल परिस्थितियों को भी स्वीकार किया और फैसला सुनाया कि पर्याप्त रुचि और ईमानदार इरादे वाला कोई भी व्यक्ति अपनी ओर से अदालत में याचिका दायर कर सकता है। उन्होंने तर्क दिया कि अदालत पत्रों को रिट याचिकाओं के रूप में मानेगी और तदनुसार आगे बढ़ेगी और प्रक्रिया न्याय की दासी से ज्यादा कुछ नहीं है और केवल तकनीकी कारणों से खारिज नहीं की जा सकती है।

4. सर्वोच्च न्यायालय ने पीपुल्स यूनिन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स बनाम भारत संघ (1982) में फैसला सुनाया कि जनहित याचिका पारंपरिक प्रतिकूल न्याय प्रणाली से अलग है। अदालत का दावा है कि जनहित याचिका का लक्ष्य जनता की भलाई को आगे बढ़ाना है। जनहित याचिका गरीबों और समाज के अन्य सामाजिक या आर्थिक रूप से वंचित सदस्यों को न्याय प्रदान करने के लिए बनाई गई थी। इतनी बड़ी संख्या में लोगों के संवैधानिक या कानूनी अधिकारों पर सबका ध्यान जाना चाहिए।

5. नगर परिषद, रतलाम बनाम वर्दिचंद (1982) में, अदालत ने नागरिकों के एक समूह द्वारा प्रस्तुत एक रिट याचिका को स्वीकार कर लिया, जिसमें खुली नालियों को हटाने के लिए स्थानीय नगरपालिका परिषद के खिलाफ आदेश देने की मांग की गई थी। न्यायालय ने कहा कि यदि “न्याय की गंभीरता का केंद्र स्थानांतरित करना है, जैसा कि वास्तव में संविधान की प्रस्तावना में लोकस स्टैडी के पारंपरिक व्यक्तिवाद से जनहित याचिका के सामुदायिक उन्मुखीकरण (कम्यूनल ओरिएंटेशन) की ओर बढ़ना है, तो अदालत को मुद्दों पर विचार करना चाहिए क्योंकि वहाँ है आम आदमी पर ध्यान देने की जरूरत है।” इसी तरह, भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने एम.सी मेहता बनाम भारत संघ (1988) के मामले में गंगा के बहते पानी को इस्तेमाल करने वाले लोगों के जीवन की सुरक्षा के लिए एक जनहित याचिका के रूप में अदालती आदेशों के लिए एक याचिका स्वीकार कर ली। इस मामले में न्यायालय ने स्थानीय सरकारों को गंगा नदी के प्रदूषण को रोकने के लिए उचित कार्रवाई करने का आदेश दिया।

इस प्रकार, जनहित याचिका का लक्ष्य समाज के सबसे कमजोर सदस्यों के लिए न्याय सुनिश्चित करना है, जबकि न्यायिक सक्रियता समाज के सभी सदस्यों के लिए न्याय सुनिश्चित करने का एक उपकरण है। सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों ने आपातकाल की घोषणा के बाद से कई फैसलों को जारी करने के लिए अपने न्यायिक सक्रियता अधिकार का इस्तेमाल किया है।

मूल संरचना सिद्धांत

प्रक्रियात्मक तकनीकों को बनाने के अलावा, सर्वोच्च न्यायालय की सक्रियता ने बुनियादी संरचना सिद्धांत जैसी अवधारणाओं के साथ न्यायशास्त्र को समृद्ध किया है। इसके अनुसार संविधान के मूल ढांचे को बदलने वाला कोई भी संशोधन असंवैधानिक है।

सर्वोच्च न्यायालय ने **केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य** में फैसला सुनाया कि संविधान द्वारा गारंटीकृत संविधान में संशोधन करने की शक्ति में इसके सबसे मौलिक और आवश्यक तत्वों में संशोधन की शक्ति शामिल नहीं है। संविधान के अंतर्निहित ढांचे को किसी भी संशोधन द्वारा बदला नहीं जा सकता है। बहुमत ने संविधान के मूलभूत तत्वों को कानून के शासन, धर्मनिरपेक्षता (सेक्युलरिज्म), संघवाद (फेडरलिज्म), समानता और लोकतंत्र के रूप में परिभाषित किया।

केशवानंद भारती के फैसले के बाद, सर्वोच्च न्यायालय ने कई संवैधानिक संशोधनों को अमान्य कर दिया, जिससे उनकी बुनियादी संरचना की मौलिक परीक्षा हो गई। इंदिरा नेहरू गांधी बनाम राज नारायण (1975) में अदालत द्वारा 39वें संशोधन को असंवैधानिक घोषित किया गया था क्योंकि इसने श्रीमती गांधी के चुनाव को इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा अमान्य घोषित किए जाने के बाद बरकरार रखने की मांग की थी और जबकि उनकी अपील अभी भी सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष लंबित थी।

मिनर्वा लिमिटेड बनाम भारत संघ (1980) में, सर्वोच्च न्यायालय ने फैसला सुनाया कि संसद ने अनुच्छेद 368 में निहित संशोधन की अपनी सीमित शक्ति को पूर्ण शक्ति में विस्तारित किया है।

किहोतो होलोहन बनाम ज़ाचिल्हू (1992) में, सर्वोच्च न्यायालय ने निर्धारित किया कि संविधान की 10 वीं अनुसूची के पैराग्राफ सात, जिसने विधायकों या सांसदों की अयोग्यता के संबंध में अध्यक्ष या सदन के अध्यक्ष की न्यायिक समीक्षा को प्रतिबंधित किया है, ने संविधान की मूल संरचना का उल्लंघन किया है।

बुनियादी ढांचे के सिद्धांत को विकसित करके, सर्वोच्च न्यायालय ने यह सुनिश्चित किया कि कम से कम वंचितों, अल्पसंख्यकों और कमजोर वर्ग के लोगों के मौलिक अधिकारों का संविधान एवं संवैधानिक संशोधनों के माध्यम से हनन नहीं किया जा सकता।

अनुच्छेद 21 और न्यायिक सक्रियता

अगर सर्वोच्च न्यायालय का कोई फैसला है जिसने अनुच्छेद 21 की व्याख्या में क्रांति ला दी है, जो जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार की रक्षा करता है, तो वह मेनका गांधी बनाम भारत संघ (1978) का है। इस निर्णय ने भारतीय न्यायपालिका को संविधान के अनुच्छेद 21 द्वारा जीवन के अधिकार और गारंटीकृत व्यक्ति की स्वतंत्रता के संबंध में निरंतर निष्क्रियता की स्थिति से जागृत किया है।

मेनका गांधी बनाम भारत संघ के मामले में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा भारतीय संविधान के अनुच्छेद 21 की भारत में एक नई व्याख्या प्रदान की गई थी। इसने तर्कसंगतता (रीजनेबिलिटी) और निष्पक्षता की अवधारणाओं के आगे विकास के लिए एक महान मिसाल कायम की। सर्वोच्च न्यायालय के अनुसार, जीवन की अवधारणा में न केवल एक पशु अस्तित्व शामिल है बल्कि सभी अधिकारों के साथ अस्तित्व शामिल है। सर्वोच्च न्यायालय ने पहली बार घोषित किया कि जीवन और केवल स्वतंत्रता को नकारने की प्रक्रिया को रेखांकित करना अपर्याप्त है; प्रक्रिया न्यायसंगत और उचित होनी चाहिए।

न्याय तक पहुंच से वंचित लाखों लोगों के अधिकारों की रक्षा के लिए, संविधान के अनुच्छेद 21 का विस्तार जीवन, व्यक्तिगत स्वतंत्रता और “कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया” की व्यापक परिभाषा को शामिल करने के लिए किया गया था। इसने सार्वजनिक अधिकारियों की ओर से शक्ति के दुरुपयोग और निष्क्रियता की सक्रिय रूप से निंदा की क्योंकि यह नागरिक के हितों के लिए लड़ी थी। कुछ मामले इस प्रकार हैं:

- **पी. रथिनम बनाम भारत संघ (1994)** के मामले में, अदालत से पूछा गया था कि क्या मरने का अधिकार जीवन के अधिकार के दायरे में आता है। अधिकांश पीठ ने पाया कि यह जीवन का अधिकार मरने के अधिकार को शामिल करता है, और भारतीय दंड संहिता की धारा 309 को अवैध और असंवैधानिक करार दिया गया था। यह जियान कौर बनाम पंजाब राज्य (1996) के मामले में खारिज कर दिया गया था, जहां अदालत ने फैसला सुनाया कि अनुच्छेद 21 में सम्मान के साथ मरने का अधिकार शामिल है, जीवन के अधिकार में मरने का अधिकार शामिल नहीं है और आत्महत्या करना भारतीय कानून के तहत दंडनीय है। इसके अलावा, सर्वोच्च न्यायालय ने कॉमन कॉज (एक पंजीकृत समाज) बनाम भारत संघ (2018) के सबसे प्रसिद्ध मामलों में से एक में निर्धारित किया कि निष्क्रिय इच्छामृत्यु (पैसिव यूथेनेशिया) को अनुच्छेद 21 के तहत जीवन के अधिकार की परिभाषा द्वारा शामिल किया गया है।

निजता (प्राइवसी) के अधिकार को अब जीवन के अधिकार और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के एक अनिवार्य घटक के रूप में मान्यता दी गई है। न्यायमूर्ति के.एस. पुट्टस्वामी (सेवानिवृत्त (रिटायर्ड)) बनाम भारत संघ (2018) के मामले में निर्णय द्वारा किसी व्यक्ति के निजी क्षेत्र की पवित्रता को बरकरार रखा गया है। “अकेले रहने का अधिकार” निजता के अधिकार का केवल एक पहलू है। इसमें राज्य के अनुचित हस्तक्षेप के बिना महत्वपूर्ण व्यक्तिगत निर्णय लेने की स्वतंत्रता शामिल है, जिसमें यौन व्यवहार भी शामिल हैं।

- **नवतेज सिंह जौहर बनाम भारत संघ (2018)** के मामले में, सर्वोच्च न्यायालय ने भारतीय दंड संहिता की धारा 377 के एक हिस्से को असंवैधानिक घोषित किया और कहा कि यह अनुच्छेद 21 द्वारा गारंटीकृत जीवन और स्वतंत्रता के अधिकार का उल्लंघन करता है, जिसमें सम्मान के साथ जीने का अधिकार, निजता का अधिकार और मनुष्य के सबसे अंतरंग (इंटिमेट) निर्णयों के संबंध में स्वायत्तता (ऑटोनोमी) और आत्मनिर्णय के अधिकार के सभी पहलू शामिल हैं।
- **शक्ति वाहिनी बनाम भारत संघ (2018)** के मामले में, सर्वोच्च न्यायालय ने फैसला सुनाया कि किसी को जीवन साथी को चुनने का अधिकार अनुच्छेद 21 द्वारा संरक्षित एक मौलिक अधिकार है और सरकार को आदेश दिया कि वह ऑनर किलिंग और इससे संबंधित अपराधों को रोकने के लिए सभी उचित निवारक कदम उठाए।
- **ओल्गा टेलिस बनाम बॉम्बे म्युनिसिपल कॉर्पोरेशन (1986)** के मामले में, न्यायालय ने बॉम्बे में फुटपाथ पर रहने वालों का समर्थन करते हुए कहा कि जीवन के अधिकार में आजीविका का अधिकार भी शामिल है। एम.सी. मेहता मामले में, अनुच्छेद 21 ने प्रदूषण मुक्त वातावरण के अधिकार को मौलिक अधिकार के रूप में मान्यता दी।

- **मोहम्मद अहमद खान बनाम शाह बानो बेगम और अन्य (1985)**, में सर्वोच्च न्यायालय ने मुस्लिम कानून को खारिज कर दिया और शाह बानो बेगम को न्याय प्रदान करने के लिए इद्दत की अवधि चार महीने और दस दिन से बढ़ा दी।
- **विशाखा बनाम राजस्थान राज्य (1997)** में, सर्वोच्च न्यायालय ने अनुच्छेद 141 और 142 के साथ पठित अनुच्छेद 32 के तहत यौन उत्पीड़न के मामलों की रोकथाम के लिए दिशा-निर्देश जारी किए। 1997 से इन नियमों को कार्यस्थल पर महिलाओं के यौन उत्पीड़न (रोकथाम, निषेध और निवारण) अधिनियम 2013) द्वारा प्रतिस्थापित किया गया है।
- **रेलवे बोर्ड बनाम चंद्रिमा दास (2000)** के मामले में, भारतीय रेलवे के कर्मचारियों ने हावड़ा के यात्रीनिवास स्टेशन के एक कमरे में एक बांग्लादेशी नागरिक के साथ सामूहिक बलात्कार किया। सरकार ने तर्क दिया कि वह यातना कानून के तहत दायित्व से मुक्त थी क्योंकि 'यात्रीनिवास' अपने आधिकारिक कर्तव्यों का पालन करते समय प्रतिबद्ध नहीं थे। दूसरी ओर, माननीय न्यायालय ने इस दावे को यह कहते हुए खारिज कर दिया कि भारतीय कर्मचारी संघ, जो यत्रिनिवास और रेलवे स्टेशन सहित प्रतिष्ठान के प्रबंधन के प्रभारी हैं, सरकार की मशीनरी के महत्वपूर्ण घटक हैं जो व्यावसायिक गतिविधि से संबंधित कार्य करते हैं।

यदि इनमें से कोई भी कर्मचारी कानून का उल्लंघन करता है, तो केंद्र सरकार, जहां वे काम करती हैं, पीड़ित को उनके कार्यों के लिए क्षतिपूर्ति करने के लिए प्रतिकरात्मक रूप से उत्तरदायी ठहराया जा सकता है, बशर्ते कि अन्य कानूनी आवश्यकताएं पूरी हों। सर्वोच्च न्यायालय ने पीड़िता को 10 लाख रुपये का मुआवजा देने का आदेश दिया। अधिकार का दायरा बहुत व्यापक है क्योंकि यह गैर-नागरिकों तक भी फैला हुआ है।

- **लक्ष्मी बनाम भारत संघ (2015)** के मामले में, 2006 में, एसिड हमले की शिकार लक्ष्मी ने एक याचिका दायर कर एसिड की बिक्री को नियंत्रित करने और पीड़ित को मुआवजा देने के लिए कानूनों की मांग की थी। 2013 में, सर्वोच्च न्यायालय ने महिलाओं पर एसिड हमलों से जुड़े मामलों में वृद्धि के कारण एसिड की बिक्री पर सख्त प्रतिबंध लगा दिए थे।

फैसले ने एसिड बेचना गैरकानूनी बना दिया। डीलरों को केवल उन्हीं ग्राहकों को एसिड बेचने की अनुमति है जिनके पास वैध पहचान है और जो खरीद को सही ठहरा सकते हैं। डीलर को तीन दिनों के भीतर बिक्री के बारे में पुलिस को सूचित करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, इसने 18 वर्ष से कम आयु के किसी भी व्यक्ति को एसिड की बिक्री पर रोक लगा दी।

- **जोसेफ शाइन बनाम भारत संघ (2018)** के मामले में व्यभिचार (एडल्टरी) को अपराध की श्रेणी से हटाकर और भारतीय दंड संहिता से हटाकर, न्यायालय ने सौमित्री विष्णु बनाम भारत संघ और एएनआर (1985) के मामले में अपने स्वयं के निर्णय को पलट दिया और यह कानून लैंगिक रूढ़ियों पर आधारित था और इस प्रकार संविधान के अनुच्छेद 14 और 15 का उल्लंघन करता था क्योंकि यह केवल व्यभिचारी के पति को दोषी मानता था जो व्यभिचारी की पत्नी के बजाय अधिक पीड़ित था। न्यायालय ने आगे कहा कि व्यभिचार को अपराध बनाना लोगों की निजता पर एक अनुचित आक्रमण होगा क्योंकि यह पारस्परिक संबंधों को पहले से अधिक सख्त बना देगा।

महिलाओं को स्थायी आधार पर सेना में शामिल करने के दिल्ली उच्च न्यायालय के फैसले को हाल ही में रक्षा सचिव बनाम बबीता पुनिया और अन्य (2020) में सर्वोच्च न्यायालय की पीठ ने बरकरार रखा था। सर्वोच्च न्यायालय ने फैसला सुनाया कि केवल शारीरिक विशेषताओं और घरेलू कर्तव्यों के आधार पर महिलाओं को कमांड पदों से बाहर करना अनुचित है। न्यायालय ने आगे घोषणा की कि महिलाओं का पूर्ण बहिष्कार (एक्सक्लूजन) गैरकानूनी है और संविधान के अनुच्छेद 14 का उल्लंघन है।

सक्रियता से अतिरेक में परिवर्तन

संसद ने अक्सर न्यायपालिका पर न्यायिक हस्तक्षेप का आरोप लगाया है। संसद के अनुसार न्यायपालिका अपने संवैधानिक अधिकार के बाहर काम कर रही है। न्यायिक सक्रियता जो सभी न्यायोचित सीमाओं से परे जाती है, उसे "न्यायिक अतिक्रमण" कहा जाता है। न्यायिक अतिरेक तब होता है जब अदालतें मनमाने ढंग से, अत्यधिक और बार-बार विधायिका और कार्यपालिका के क्षेत्र में घुसपैठ करती हैं।

यद्यपि न्यायिक सक्रियता और अतिरेक के बीच अंतर सूक्ष्म हैं, समाज पर उनके प्रभाव पूरी तरह से अलग हैं। न्यायिक सक्रियता की आवश्यकता के विपरीत, न्यायिक अतिरेक का इरादा वास्तविक नहीं है। अतिरेक एक स्वस्थ लोकतंत्र की संस्थाओं के कामकाज में बाधा डालता है।

मुख्य न्यायमूर्ति जे.एस. वर्मा के अनुसार, “न्यायिक सक्रियता तब उचित है जब यह वैध न्यायिक समीक्षा के दायरे में हो। कोई न्यायिक अत्याचार या तदर्थवाद नहीं होना चाहिए।”

अप्रैल 2007 में, नई दिल्ली में, डॉ. मनमोहन सिंह ने मुख्यमंत्रियों और उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीशों के एक सम्मेलन में बात की। उन्होंने कहा, न्यायालयों ने अनगिनत उदाहरणों में एक हितकारी और सुधारात्मक भूमिका निभाई है। हमारे लोग इसके लिए उन्हें सर्वोच्च सम्मान देते हैं। इसके अलावा, न्यायिक सक्रियता और अतिरेक के बीच अंतर करना मुश्किल है। इस बयान से भारत में न्यायिक जवाबदेही के बारे में व्यापक चर्चा हुई।

न्यायपालिका के पास संयम बरतने का कोई औचित्य (जस्टिफिकेशन) नहीं है। अरावली गोल्फ कोर्स के डिवीजनल मैनेजर बनाम चंदर हास (2007) के मामले में, सर्वोच्च न्यायालय ने फैसला सुनाया कि न्यायाधीशों को अपने अधिकार से आगे नहीं बढ़ना चाहिए और सरकार के नियंत्रण को जल्लु करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका सहित सरकार की प्रत्येक शाखा को शक्तियों के पृथक्करण (सेपरेशन) का सम्मान करना चाहिए और दूसरों के मामलों में दखल देने से बचना चाहिए।

अदालत ने जोर दिया कि “न्यायिक सक्रियता” को “न्यायिक दुस्साहसवाद (एडवेंचरिज्म)” के लिए गलत नहीं माना जाना चाहिए, यह देखते हुए कि “न्यायिक हस्तक्षेप,” “न्यायिक अतिक्रमण,” और “न्यायिक सक्रियता” को अक्सर इस तर्क से उचित ठहराया जाता है कि विधायिका और कार्यपालिका उनके कर्तव्यों का ठीक से पालन नहीं कर रहे हैं। न्यायपालिका इस नियम का अपवाद नहीं है, विभिन्न न्यायालयों में पचास से अधिक वर्षों से मामले लंबित हैं। सरकार की तीनों शाखाओं के बीच शक्ति का स्वस्थ संतुलन बनाए रखने के लिए, न्यायालयों को एक निश्चित मात्रा में संयम बरतना चाहिए।

न्यायिक अतिरेक से कई मौलिक संवैधानिक सिद्धांतों का उल्लंघन होता है। इसका कोई बहाना नहीं है, इसलिए यह शक्तियों के पृथक्करण का उल्लंघन करता है। यह कानून की सर्वोच्चता के खिलाफ जाता है, जिसकी गारंटी कानून के शासन द्वारा दी जाती है। दूसरी ओर, अदालत खुद को कानून से ऊपर रखती है और इसे लागू करती है, जैसा कि वह उचित समझती है। इसके अतिरिक्त, यह जवाबदेही के लोकतांत्रिक मूल्य के खिलाफ हमला करता है। लोकतंत्र में, किए गए सभी कार्यों, सार्वजनिक नीति के संबंध में किए गए विकल्पों और कार्यकारी कार्रवाई या निष्क्रियता के लिए जिम्मेदारी स्थापित की जाती है। हालाँकि, जब अदालत इन क्षेत्रों में हस्तक्षेप करना शुरू करती है तो किसी भी प्रकार की कोई जवाबदेही नहीं होती है क्योंकि अदालतें स्वतंत्र रूप से काम करती हैं।

न्यायिक संयम

- ✓ न्यायिक अतिरेक से जुड़े मामलों की बढ़ती संख्या ने एक निवारक उपाय के रूप में न्यायिक संयम के बारे में एक बहस छेड़ दी। न्यायिक संयम, न्यायिक सक्रियता और अतिरेक के विपरीत है।
- ✓ न्यायिक संयम एक न्यायिक निर्णय लेने वाला दर्शन (फिलोसॉफी) है जिसमें न्यायाधीश केवल कानून की व्याख्या मिसाल के अनुसार करने के लिए जनता की भलाई के बारे में अपने व्यक्तिगत विश्वासों में लिप्त होने से बचते हैं। न्यायिक संयम की मूल अवधारणा यह है कि लोगों की इच्छा विधायी निकायों के माध्यम से सबसे अच्छी तरह व्यक्त की जाती है और लोगों को उनके राजनीतिक विकल्पों के परिणाम भुगतने चाहिए। जब सरकार बदलती है तो नीतियों में बदलाव होना लाजमी है। और अपने निर्णय से न्यायाधीशों को नई नीतियां स्थापित करने से बचना चाहिए।
- ✓ लोकतंत्र की विभिन्न शाखाओं के बीच शक्ति के नाजुक संतुलन को बनाए रखने के लिए, सर्वोच्च न्यायालय ने बार-बार न्यायिक संयम के महत्व पर जोर दिया है।
- ✓ माइनर प्रियदर्शिनी बनाम प्राथमिक निदेशक (प्राइमरी डायरेक्टर) (2016) के मामले में, न्यायमूर्ति मार्कंडेय काटजू ने कहा, कि “संविधान के तहत, विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका प्रत्येक के संचालन के अपने व्यापक क्षेत्र हैं। यदि इन तीनों राज्य निकायों में से कोई भी अपने-अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर उद्यम (इंडस्ट्री) करता है, तो संविधान का नाजुक संतुलन गड़बड़ा जाएगा। इसलिए, न्यायपालिका को संयम का प्रयोग करना चाहिए और एक सुपर-विधायिका के रूप में कार्य करने की इच्छा का दमन करना चाहिए। संयम बरतने से ही अपना मान सम्मान और प्रतिष्ठा बढ़ेगी।
- ✓ एस.आर. बोम्मई बनाम भारत संघ (1994) के प्रसिद्ध मामले में, न्यायालय ने निर्धारित किया कि उच्च स्तर के राजनीतिक हित शामिल होने पर कोई न्यायिक समीक्षा नहीं हो सकती है और न्यायपालिका को इसमें शामिल नहीं होना चाहिए।

- ✓ अलमित्रा एच. पटेल बनाम भारत संघ (2000) में, सर्वोच्च न्यायालय ने दिल्ली नगर निगम को दिल्ली को साफ करने के निर्देश देने को खारिज कर दिया, यह दावा करते हुए कि मामला इसके दायरे से बाहर था और यह केवल संगठन को यह करने के लिए कह सकता था कि वे अपने कानूनी दायित्व को पूरा करें।
- ✓ कई अन्य मामलों में, अदालत ने संयम सिद्धांत और इसके सीमित आवेदन को बरकरार रखा है। डिवीजनल मैनेजर, अरावली गोल्फ कोर्स बनाम चंदर हास (2007) में, सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि “न्यायाधीशों को अपनी सीमाएं पता होनी चाहिए। सम्राटों की तरह व्यवहार करने के बजाय उन्हें विनम्र होना चाहिए। संविधान शक्ति के स्पष्ट विभाजन की स्थापना करता है, और सरकार की प्रत्येक शाखा दूसरों का सम्मान करने और उनके अधिकार क्षेत्र में अतिक्रमण करने से बचने के लिए बाध्य है।”
- ✓ सर्वोच्च न्यायालय ने एक बार फिर आंध्र प्रदेश सरकार बनाम पी लक्ष्मी देवी (2008) के मामले में जोर दिया कि “एक विधायी अधिनियम को अमान्य करना एक गंभीर कदम है जिसे कभी भी हल्के में नहीं लिया जाना चाहिए। एक अदालत यह तय कर सकती है कि एक कानून असंवैधानिक है, न केवल इसलिए कि यह दृष्टिकोण संभव है, बल्कि केवल तभी जब यह एकमात्र दृष्टिकोण है जो तर्कसंगत प्रश्न के अधीन नहीं है।”

न्यायिक सक्रियता, संयम और अतिरेक के बीच अंतर

न्यायिक सक्रियता

न्यायिक सक्रियता नागरिकों के अधिकारों की रक्षा में न्यायपालिका की सक्रिय भूमिका का शब्द है। न्यायिक दर्शन, न्यायाधीशों को नवीन और प्रगतिशील सामाजिक नीतियों के पक्ष में स्थापित उदाहरणों को अस्वीकार करने के लिए प्रेरित करता है।

न्यायिक संयम

न्यायिक संयम, न्यायिक सक्रियता के ठीक विपरीत है। यह न्यायिक व्याख्या का एक सिद्धांत है जो न्यायाधीशों से अपनी शक्ति को नियंत्रित करने का आग्रह करता है। एक प्रक्रियात्मक सिद्धांत के रूप में, संयम का विचार न्यायालयों से कानूनी मामलों, विशेष रूप से संवैधानिक मामलों पर निर्णय लेने पर रोक लगाने का आग्रह करता है, जब तक कि विरोधी पक्षों के बीच किसी विशेष विवाद को निपटाने के लिए निर्णय आवश्यक न हो। यह संवैधानिक मामलों पर बहस करने वाली न्यायालयों को प्रोत्साहित करता है कि वे चुनी हुई शाखाओं को काफी विश्वसनीयता दें और संविधान का उल्लंघन करने पर ही उनके कार्यों को अस्वीकार करें।

न्यायिक अतिरेक

जब न्यायिक सक्रियता, न्यायिक दुस्साहसवाद में बदल जाती है तो न्यायिक अतिरेक शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार की सक्रियता में न्यायपालिका द्वारा विधायी मामलों में बार-बार, मनमाना और अनुचित घुसपैठ शामिल है। ऐसा करने से न्यायपालिका अपने अधिकार से परे चली जाती है, सरकार की विधायी या कार्यकारी शाखाओं में हस्तक्षेप करने का जोखिम उठाती है, और शक्तियों के पृथक्करण की भावना के खिलाफ जाती है।

न्यायिक सक्रियता और न्यायिक संयम के बीच अंतर

न्यायिक सक्रियता और न्यायिक संयम ऐसे शब्द हैं जिनका उपयोग न्यायपालिका की शक्ति के उपयोग का वर्णन करने के लिए किया जाता है। न्यायिक सक्रियता और न्यायिक संयम के बीच कुछ अंतर इस प्रकार हैं:

1. मौजूदा मूल्यों और शर्तों को बढ़ावा देने के लिए संविधान का उपयोग करना न्यायिक सक्रियता के रूप में जाना जाता है। इसके विपरीत, न्यायिक संयम एक कानून को रद्द करने के लिए न्यायाधीश की शक्ति को प्रतिबंधित करता है।
2. न्यायिक सक्रियता और न्यायिक संयम के अलग-अलग उद्देश्य हैं। न्यायिक संयम सरकार की तीन शाखाओं: न्यायपालिका, कार्यपालिका और विधायिका के बीच शक्ति के संतुलन के संरक्षण में सहायता करता है। इस मामले में, न्यायाधीशों और अदालत ने मौजूदा कानून को बदलने के बजाय उसकी समीक्षा करने की वकालत की। न्यायिक सक्रियता व्यक्तिगत अधिकारों की सुरक्षा, नागरिक अधिकारों, सार्वजनिक नैतिकता और राजनीतिक अन्याय जैसे मुद्दों पर सामाजिक नीतियों के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान देती है।
3. न्यायिक सक्रियता समाज के बदलते पहलुओं पर विचार करती है, जबकि व्यापक मुद्दों पर विचार करने के लिए न्यायिक संयम की आवश्यकता नहीं है।

न्यायिक सक्रियता और न्यायिक अतिरेक के बीच अंतर

1. न्यायिक सक्रियता और अतिरेक में बहुत कम अंतर है। सीधे शब्दों में कहें तो न्यायिक अतिरेक तब होता है जब न्यायिक सक्रियता बहुत दूर चली जाती है और न्यायिक दुस्साहसवाद में बदल जाती है। अदालत सरकार की विधायी और कार्यकारी शाखाओं के संचालन में हस्तक्षेप करने का जोखिम उठाती है जब वह अपने अधिकार से अधिक हो जाती है।

2. यद्यपि न्यायिक सक्रियता को कार्यपालिका की विफलताओं के पूरक के रूप में अनुकूल रूप से देखा जाता है, कार्यपालिका के दायरे में अतिरेक को लोकतांत्रिक प्रक्रिया में घुसपैठ के रूप में देखा जाता है।
3. व्यक्तिगत धारणाएँ प्रभावित करती हैं कि किसी कार्य को सक्रिय माना जाता है या अत्यधिक।
4. दूसरी ओर, अदालत ने हमेशा तर्क दिया है कि विधायी और कार्यकारी अतिरेक के कारण उन्हें हस्तक्षेप करना चाहिए और आदेश जारी करना चाहिए।

निष्कर्ष

न्यायिक सक्रियता का दायरा इतना व्यापक है कि कोई सटीक परिभाषा मौजूद नहीं है। न्यायिक सक्रियता या समीक्षा की शक्तियाँ भारतीय संविधान से ली गई हैं, जो उन्हें स्वयं को प्रकट करके एक प्रभावी कार्य करने की शक्ति प्रदान करती हैं। न्यायपालिका में, संविधान की सुरक्षा, कानून के शासन और संवैधानिकता को न्यायिक सक्रियता से मजबूत किया जाता है, जो समाज में एक अलग हित समूह द्वारा लाए गए संकट की स्थिति में सुरक्षा जाल के रूप में कार्य करता है। न्यायपालिका न्याय के प्रशासन की देखरेख करती है और यह सुनिश्चित करती है कि निर्णय जनहित में और अच्छे विश्वास में किए जाएं।